कृषि उत्पादकता और ऋण - मुद्दे और भावी मार्ग*

के. सी. चक्रवर्ती

प्रो.एम.एस.स्वामिनाथन, श्री ए.एस.भट्टाचार्य, सीएमडी, बैंक ऑफ महाराष्ट्र, सुश्री कमला राजन, प्रधानाचार्य, सीएबी, पुणे, श्री आर.एल.शर्मा, उप-प्रधानाचार्य, सीएबी, अन्य संकाय-सदस्य, पैनल के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान, प्रतिभागी, देवियो और सज्जनो! सीएबी, पुणे द्वारा आयोजित 'भारतीय कृषि में उत्पादकता के संबंध में राष्ट्रीय सेमिनार' के अवसर पर उपस्थित रहना मेरे लिए हर्ष का विषय है।

2. भारतीय सदर्भ में, खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता की नीति ने देश का बहुत भला किया जिसके परिणामस्वरूप हरित क्रांति आई। देश में इस समय चावल और गेहूँ के पर्याप्त भंडार हैं जो सुरक्षित भंडारण मानदंडों से और खाद्यान्न की पर्याप्तता संबंधी अपेक्षाओं से अधिक है। तथापि, मध्यावधि से दीर्घावधि तक खाद्यान्न की पर्याप्तता संबंधी चिंता अधिक गहरी हो सकती है । इसका कारण भूमि की कमी और सीमित आपूर्ति है । इसके अलावा, खाद्यान्नों के आयात पर निरंतर निर्भर रहना भारतीय संदर्भ में व्यवहार्य विकल्प नहीं है । अतः वर्तमान और भावी आबादी के लिए खाद्यान्न की पर्याप्तता का तंत्र बनाया जाना जरूरी है ताकि कृषि उत्पादन और उत्पादकता बढ़ायी जा सके । यह पहले से ही भारतीय रिज़र्व बैंक का ध्यान आकृष्ट कर रही है। इस प्रकार, सीएबी, पुणे द्वारा आयोजित यह सेमिनार बहुत ही प्रासंगिक है और इसकी विषय-वस्तु का गहरा संबंध भारत की भावी वृद्धि से है ।

3. इस सेमिनार की दिशा निर्धारित करने के लिए प्रो. एम.एस.स्वामिनाथन से बेहतर कोई और नहीं हो सकता था । यह वास्तव में बड़े ही सौभाग्य की बात है कि प्रो.एम.एस.स्वामिनाथन आज हमारे बीच उपस्थित हैं । भारत में गहूँ की अधिक उपज वाली किस्में आरंभ और विकसित करने में उनके नेतृत्व और सफलता के लिए उन्हें 'भारत में हरित क्रांति के जनक' के रूप में जाना जाता है । उनका विज़न है विश्व को गरीबी और भूख से छुटकारा दिलाना । प्रो. स्वामिनाथन भारत को धारणीय पथ पर अग्रसर करने के हिमायती हैं, विशेष रूप से पर्यावरण के अनुकूल धारणीय कृषि का उपयोग करने, धारणीय खाद्यान्न-पर्याप्तता और जैव-विविधता के संदर्भ में, जिसे वे 'सदाबहार क्रांति' कहते हैं । उन्होंने अपने सहकर्मियों और छात्रों के साथ मौलिक एवं अनुप्रयुक्त पादप-प्रजनन समस्याओं को हल करने, कृषि अनुसंधान तथा विकास तथा प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करने की दिशा में दुनिया भर में काम किया है । यह उचित ही था कि आज उन्होंने इस अवसर पर उद्घाटन-भाषण दिया । महोदय, हम आपके सारगर्भित भाषण से अभिभूत हैं और मुझे विश्वास है कि हम सभी एक ऐसे विषय पर आपके मूल्यवान विचारों से लाभान्वित हुए हैं, जो न केवल आपको अत्यंत प्रिय है, बल्कि देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है ।

4. मैंने यह भी नोट किया है कि इस सेमिनार में इस विषय पर व्यापक अनुभव रखने वाले प्रतिष्ठित वक्ता सम्मिलित किये गये हैं । इसमें कृषि उत्पादकता, कृषि उत्पादकता में सुधार के लिए अनुसंधान और प्रौद्योगिकी की भूमिका, उत्पादकता और कृषि आय, उत्पादकता को प्रोत्साहन - निवेश को बढ़ावा देने, ऋण वृद्धि और उत्पादकता-वृद्धि के बीच संबंध तथा जोखिम का शमन, आदि विषयों पर सत्र रखे गये हैं । अपने भाषण में मैं आज, रिज़र्व बैंक की दृष्टि से, कृषि उत्पादकता की प्रमुख प्रवृत्तियों /मुद्दों पर और ऋण तथा कृषि उत्पादकता में सुधार के लिए कृषि ऋण की भूमिका पर ध्यान केंद्रित करूँगा । मैं ऐसे कुछ कदमों के बारे में भी बताना चाहूँगा जिनका प्रतिफल अल्पावधि में मिल सकता है ।

कृषि का महत्त्व

5. जैसाकि आप जानते हैं, भारत की वृद्धि की हाल की कथा में सेवा-क्षेत्र की अग्रणी भूमिका रही है । सेवा-क्षेत्र ने पूरी तरह से कृषि का, जो परंपरागत रूप से भारत के जीडीपी में सबसे बड़ा योगदान करने वाला रहा है, स्थान ले लिया है । तथापि, यह तथ्य कि आज जीडीपी में इसका हिस्सा बहुत थोड़ा, लगभग 14 प्रतिशत है, जबकि पहले यह अधिक, 50 प्रतिशत से ऊपर हुआ करता था, भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए इसके महत्त्व को कम नहीं करता है । ऐसा इसलिए, क्योंकि पहली बात तो यह है कि, जैसाकि हम सभी जानते हैं, कृषि-क्षेत्र

* सीएबी, पुणे में 2 सितंबर 2011 को भारतीय कृषि में उत्पादकता पर राष्ट्रीय सेमिनार में डॉ. के. सी.चक्रवर्ती, उप गवर्नर, भारतीय रिज़र्व बैंक, का भाषण । यह भाषण तैयार करने में श्री थांग्ज़ासोन सोन्ना और श्रीमती पल्लवी चह्वाण की सहायता के लिए आभार व्यक्त किया जाता है।

आज भी सबसे बड़ा नियोक्ता बना हुआ है, जिसका हिस्सा लगभग 60 प्रतिशत है । दूसरी बात यह कि अन्य क्षेत्रों में मांग-सृजन करने की चाबी इसके पास है और भारत की जीडीपी वृद्धि में यह महत्त्वपूर्ण योगदानकर्ता बना हुआ है । अर्थव्यवस्था में 9 प्रतिशत वृद्धि के लिए कृषि-क्षेत्र में कम से कम 4 प्रतिशत की वृद्धि आवश्यक है। इस प्रकार, हालाँकि इसका हिस्सा कम है, कृषि उत्पादन में उतार-चढ़ाव का बड़ा और महत्त्वपूर्ण प्रभाव समग्र जीडीपी वृद्धि पर हो सकता है । तीसरी बात यह कि चूँकि उपभोक्ता मूल्य सूचकांकों को मापने के लिए प्रयुक्त पण्य-समूह में खाद्यान्न एक महत्त्वपूर्ण अवयव होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि खाद्यान्न-पर्याप्तता सुनिश्चित करने के लिए खाद्यान्नों की कीमत उचित स्तर पर बनाये रखी जाये, विशेष रूप से हमारे समाज के वंचित लोगों के लिए । वस्तुतः खाद्यान्न-पर्याप्तता एक महत्त्वपूर्ण नीतिगत चिंता के रूप में उभर रही है और खाद्यान्न तक सभी लोगों की समान पहुँच सुनिश्चित करने में कृषि की भूमिका ने नीति-निर्माताओं के लिए नया परिप्रेक्ष्य जोड़ा है ।

कृषि उत्पादकता की प्रवृत्ति

6. मैं भारत मे कृषि उत्पादकता की कुछ प्रवृत्तियों पर चर्चा करना चाहूँगा । जैसाकि आप सभी जानते हैं, वर्ष 1968 में भारतीय कृषि के लिए परिवर्तन का दौर आरंभ हुआ । आजादी के बाद लगभग दो दशकों तक देश कृषि-आयात पर निर्भर रहा था । वर्ष 1967-68 के दौरान चावल और गेहूँ का उत्पादन क्रमशः 28.0 प्रतिशत और 23.6 प्रतिशत बढ़ा, जबकि उसी वर्ष उनकी उपज क्रमशः 19.6 प्रतिशत और 24.4 प्रतिशत बढ़ी । ऐसा पहली बार हुआ, जब देश में चावल और गेहूँ, दोनों के उत्पादन और उपज में ऐसी उच्च वृद्धि देखी गयी। वृद्धि का यह स्तर अब तक की उच्चतम उपलब्धि रहा है । 1960 के दशक के मध्य में बीजों की अधिक उपज वाली किस्मों (एचवाईवी) का विकास और बाद में उर्वरक-कीटनाशक-सिंचाई पैकेज, बेहतर बीज, उन्नत संचाई और किसानों को शिक्षित किये जाने के चलते उत्पादकता में भारी वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप गेहूँ, चावल और खाद्यान्नों का उत्पादन बाद के वर्षों, 1967-1970 में क्रमशः 21.9 प्रतिशत, 10.3 प्रतिशत और 10.9 प्रतिशत की औसत दर से बढ़ा । इसका श्रेय गेहूँ, चावल और खाद्यान्नों की उपज में महत्त्वपूर्ण वृद्धि को दिया जा सकता है, जो इन्हीं वर्षों के दौरान क्रमशः 11.2 प्रतिशत, 7.9 प्रतिशत और 8.1 प्रतिशत की औसत दर से बढ़ी । ये वृद्धि दरें अभूतपूर्व भी हैं । उत्पादन और उपज में उच्च वृद्धि बाद में 1970 के दशक और 1980 के दशक में भी जारी रही । गेहूँ, चावल और खाद्यान्नों का उत्पादन 1970 और 1980 के दशकों के दौरान क्रमशः 5.1 प्रतिशत, 4.0 प्रतिशत और 3.3 प्रतिशत की औसत दर से बढ़ा । इसी अवधि के दौरान गेहूँ, चावल और खाद्यान्नों की उपज गेहूँ और चावल के मामले में 3.1 प्रतिशत और खाद्यान्नों के मामले में 2.9 प्रतिशत की औसत दर से बढ़ी । इसी अवधि के दौरान उत्पादन और उपज में वृद्धि की ये दरें आबादी की 2.2 प्रतिशत की औसत वार्षिक वृद्धि दर की तुलना में बहुत अधिक थीं । इसने देश को गेहूँ और चावल के संदर्भ में आत्मनिर्भरता का लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ बनाया (सारणी 1)।

7. तथापि, भारतीय कृषि की उत्पादकता में 1990-2010 के दौरान कमी देखी गयी जब गेहूँ, चावल और खाद्यान्नों का उत्पादन कम होकर क्रमशः 2.6 प्रतिशत, 1.4 प्रतिशत और 1.6 प्रतिशत हो गया । इसका कारण गेहूँ, चावल और खाद्यान्नों की उपज में निश्चलता थी, जो इसी अवधि के दौरान क्रमशः 1.7 प्रतिशत, 1.2 प्रतिशत और 1.6 प्रतिशत की औसत दर से बढ़ी। इसके अतिरिक्त 1990-2010 के दौरान खाद्यान्न उत्पादन की औसत वृद्धि दर 1.6 प्रतिशत थी जो इसी अवधि में आबादी की 1.9 प्रतिशत वृद्धि की तुलना में कम थी (सारणी 1)। इसके

सारणी 1 : भारत में उपज और उत्पादन की वृद्धि -प्रमुख फसलें

(प्रतिशत)

अवधि	उपज-वृद्धि							जनसंख्या
	चावल	गेहूँ	दालें	खाद्यान्न	तिलहन	गन्ना	कपास	वृद्धि
	1	2	3	4	5	6	7	8
1970-80	3.1	3.1	0.7	2.9	2.7	1.6	4.9	2.2
1990-2010	1.2	1.7	1.1	1.6	2.6	0.1	3.5	1.9
1968-70	7.9	11.2	13.9	8.1	7.8	7.2	2.4	2.2
2006-11	1.3	2.3	3.0	2.4	3.8	0.6	8.1	1.7
अवधि	**उत्पादन वृद्धि**							**जनसंख्या वृद्धि**
1970-80	4.0	5.1	1.5	3.3	4.4	3.4	6.1	2.2
1990-2010	1.4	2.6	1.5	1.6	3.6	1.9	5.3	1.9
1968-70	10.3	21.9	14.4	10.9	6.7	10.8	-6.0	2.2
2006-11	0.9	4.4	6.5	3.2	3.4	5.0	13.9	1.7

परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति प्रतिदिन खाद्यान्न की निवल उपलब्धता, जो वर्ष 1991 में 510.1 ग्राम थी, घटकर वर्ष 2009 में 444.0 ग्राम रह गयी । दालों के लिए तदनुकूल आँकड़े क्रमशः 41.6 ग्राम और 37.0 ग्राम हैं ।

8. हाल के वर्षों में सभी प्रमुख फसलों में प्रति इकाई क्षेत्र में कम उपज भारतीय कृषि की सामान्य विशेषता बन गई है । इसका कारण कृषि-क्षेत्र की संरचनात्मक दुर्बलता को माना जा सकता है जो सार्वजनिक निवेश के कम स्तर, गेहूँ और चावल की उच्च पैदावार वाली नयी किस्मों की उपज की क्षमता का अधिकतम स्तर पर पहुँच जाना, उर्वरक का असंतुलित प्रयोग, न्यून बीज प्रतिस्थापन दर, अपर्याप्त प्रोत्साहन प्रणाली और फसलोत्तर मूल्यवर्धन के रूप में प्रतिबिंबित होता है । कुछ अन्य कारण, जो हमारे देश में कम कृषि उत्पादकता के लिए जिम्मेवार माने जा सकते हैं, निम्नलिखित हैं (i) कृषि भूमि के बड़े हिस्से में सिंचाई सुविधा की कमी, (ii) किसानों के पास छोटी और खंडित जोत का होना, (iii) फसलों के लिए सभी बड़े और छोटे पोषक तत्व प्रदान करने के वास्ते उन्नत बीज, उर्वरकों और कीटनाशकों का देश के अनेक हिस्सों में समय पर उपलब्ध नहीं होना, (iv) भूमध्यसागर क्षेत्र में स्थित देशों की तुलना में पौधों को कम प्रकाश अवधि की उपलब्धता।

9. भारतीय कृषि की उत्पादकता विश्व-स्तर पर देखी जाने वाली उत्पादकता की तुलना में कम है । भारत में अप्रैल 2011 में चावल की उपज का अनुमान प्रति हेक्टेयर 3.2 मीट्रिक टन लगाया गया था जबकि अमेरिका में प्रति हेक्टेयर 7.5 मीट्रिक टन, चीन में 6.7 मीट्रिक टन और विश्व के लिए औसत 4.3 मीट्रिक टन उपज का अनुमान था (चार्ट 1) । गेहूँ और मोटे अनाज के मामले में भी उपज में इसी प्रकार की विषमता देखी गयी, हालाँकि, जहाँ तक तिलहनों का संबंध है, उपज-अंतराल कम था, अर्थात् भारत, अमेरिका और चीन के लिए यह क्रमशः 1.0 मीट्रिक टन प्रति हेक्टेयर, 2.7 मीट्रिक टन प्रति हेक्टेयर और 2.1 मीट्रिक टन प्रति हेक्टेयर था। प्रमुख फसलों की उपज के संदर्भ में देश के सर्वाधिक उत्पादन करने वाले अधिकांश राज्य भी विश्व-मानकों से पीछे हैं ।

10. वर्ष 2010-11 के दौरान पंजाब ने सर्वाधिक उपज के साथ चावल का प्रति हेक्टेयर 3.8 मीट्रिक टन उत्पादन किया, जबकि दुनिया में चावल का औसत उत्पादन प्रति हेक्टेयर 4.3 मीट्रिक टन हुआ। तमिलनाडु में तिलहन की उपज, जो भारत में सबसे अधिक थी, प्रति हेक्टेयर 2.1 मीट्रिक टन पर चीन और अमेरिका में प्रति हेक्टेयर 2.7 मीट्रिक टन की तुलना में कम थी । तथापि, वर्ष 2010-11 के दौरान पंजाब में प्रति हेक्टेयर 4.5 मीट्रिक टन गेहूँ की उपज अमेरिका और

चार्ट 1: तुलनात्मक उपज : भारत और विश्व (अप्रैल 2011)

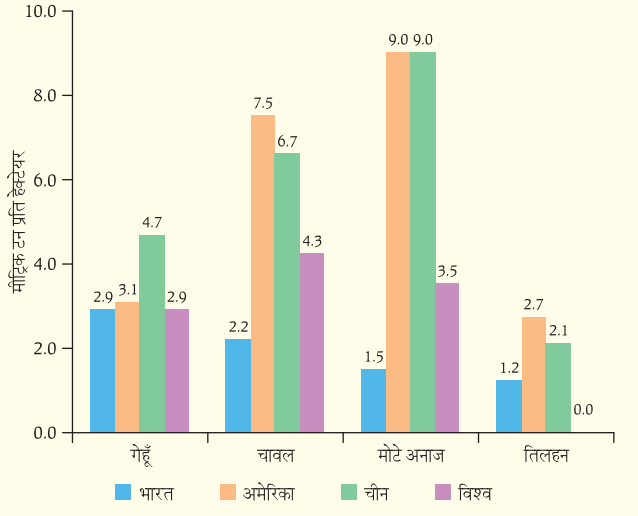

विश्व औसत की तुलना में अधिक थी, हालाँकि चीन में 4.7 मीट्रिक टन उपज की तुलना में यह थोड़ी कम थी । इसके अलावा, भारत के सभी राज्यों/क्षेत्रों में इन फसलों की उत्पादकता में व्यापक विविधता दिखाई देती है (चार्ट 2-4)। यहां पर कृषि उत्पादन में अंतर क्षेत्रीय, अंतर-राज्यीय तथा अंतर्राज्यीय असमानताओं की ओर ध्यान देने की अत्यधिक जरुरत है।

11. ज्वार और बाजरा की उत्पादकता बढ़ाने पर भी जोर दिया जाना आवश्यक है । अन्य फसलों, यथा, तिलहन, दालों और बागवानी फसलों की उत्पादकता में भी सुधार किये जाने की आवश्यकता है । प्रमुख खाद्य पदार्थों, जैसेकि, दूध और अंडों की माँग और आपूर्ति के

चार्ट 2: राज्यों में तुलनात्मक उपज : चावल 2010-11

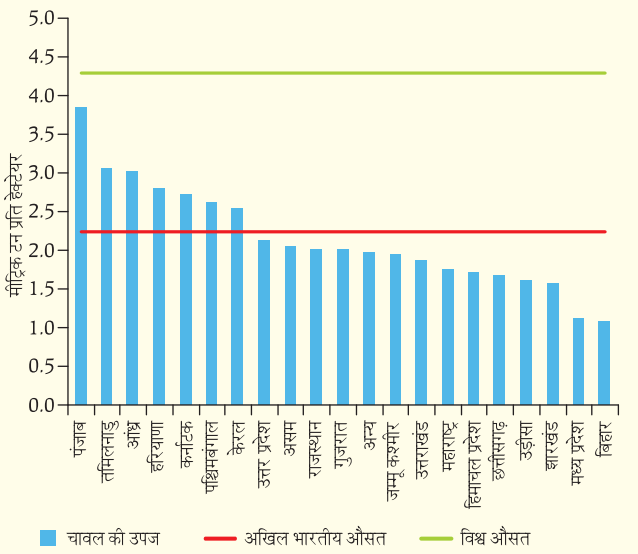

चार्ट 3: राज्यों में तुलनात्मक उपज : गेहूँ 2010-11

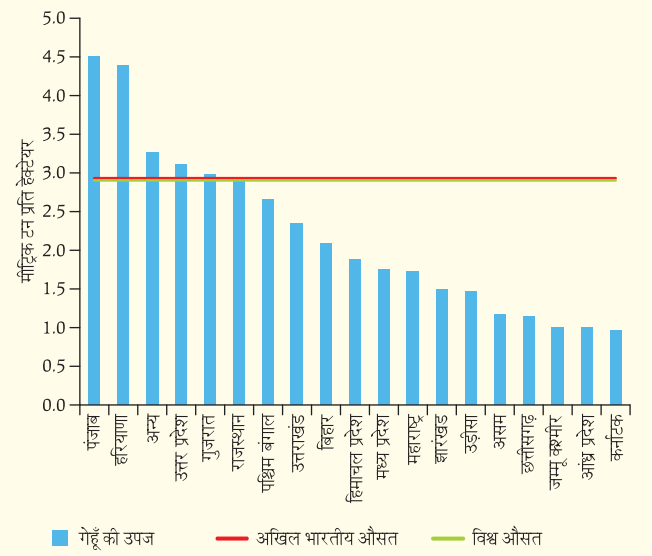

चार्ट 4: राज्यों में तुलनात्मक उपज : तिलहन 2010-11

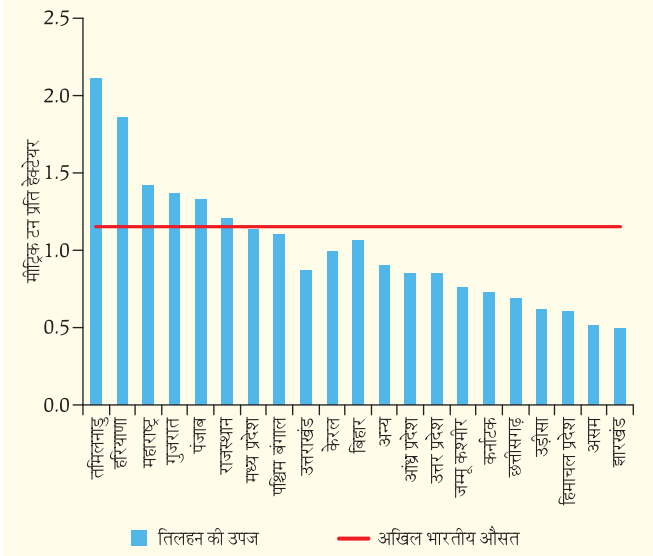

बीच अंतर होने की संभावना हो सकती है, जिसपर ध्यान दिया जाना आवश्यक है । राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड के अनुसार भारत को वर्ष 2021-22 तक 180 मिलियन मीट्रिक टन दूध की आवश्यकता होगी। इसका अर्थ यह है कि दूध के वार्षिक उत्पादन में, जो इस समय 2.5 मिलियन मीट्रिक टन है, वृद्धि करते हुए उसे प्रति वर्ष 5 मिलियन मीट्रिक टन किया जाना होगा ताकि वर्ष 2021-22 तक इसमें आत्म-निर्भरता का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके । इसी तरह, राष्ट्रीय पोषाहार संस्थान ने हमारे देश के लिए प्रति व्यक्ति 11 किलोग्राम मांस और 180 अंडों के उपभोग की सिफारिश की है, जबकि प्रति व्यक्ति केवल 1.6 किलोग्राम मांस और 42 अंडों की उपलब्धता है । ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के अनुसार तिलहन के संदर्भ में वर्ष 2009-10 के दौरान माँग-आपूर्ति अंतराल का अनुमान तिलहन में लगभग 13.4 प्रतिशत, दालों में 18.7 प्रतिशत और खाद्यान्नों में 2.0 प्रतिशत लगाया गया है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के अनुमान यह दर्शाते हैं कि वर्ष 2020-21 तक तिलहन, मछली, अंडे और फल जैसी खाद्य मदों की माँग को पूरा करने के लिए 15 वर्षों तक, अर्थात् वर्ष 2006-07 से लेकर 2020-21 की अवधि के दौरान इनका उत्पादन प्रतिवर्ष क्रमशः 6.0 प्रतिशत, 3.5 प्रतिशत, 3.4 प्रतिशत और 2.9 प्रतिशत बढ़ाना होगा (सारणी 2) ।

अतः, कारगर नीतिगत हस्तक्षेप के लिए कृषि के सभी खंडों की उत्पादकता का सार्थक और व्यापक विश्लेषण किया जाना आवश्यक है । यह भी कि रोजगार में वृद्धि करने के लिए अवसरों का सृजन तथा कृषि क्षेत्र में नियोजित श्रमिकों को कृषि-उद्योग क्षेत्र में स्थानांतरित करने के प्रयास करने होंगे।

12. हाल के वर्षों में फसलों की उपज कम रही है और गेहूँ तथा चावल के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य में क्रमिक बढ़ोतरी होती रही है । इसे मूल्य हस्तक्षेप के पक्ष में नीतिगत झुकाव जारी रहने के रूप में देखा जा सकता है, जबकि सुधार-पश्चात् वर्षों में मूल्येतर हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया जाता था । इसने खाद्यान्नों की पर्याप्त और स्थिर खरीद को सुनिश्चित किया है, जो जन-वितरण प्रणाली तथा सरकार की विविध कल्याण योजनाओं की माँग को पूरा करने के प्रबंध कर सकता है। तथापि, अनेक कारणों से खाद्यान्नों का उठाव खरीद की गति के अनुरूप नहीं रहा है ।

13. चावल और गेहूँ के संबंध में विषम प्रोत्साहनों ने भूमि के उपयोग को और फसल-पैटर्न को प्रभावित किया है और ज्यादा सरकारी खरीद कुछ राज्यों तक सीमित रही है । जहाँ तक किसानों का संबंध है, इस

सारणी 2 : माँग का पूर्वानुमान

(मिलियन मीट्रिक टन)

खाद्य वस्तुएँ	घरेलू उत्पादन 2006-07	माँग का पूर्वानुमान 2020-21	वृद्धि दर 1998-99 से 2006-07 तक	अपेक्षित वृद्धि दर 2006-2021 के दौरान
	1	2	3	4
अनाज	201.9	262.0	0.62	1.9
दालें	14.2	19.1	0.47	2.1
खाद्यान्न	216.1	281.1	0.61	1.9
तिलहन	23.6	53.7	1.96	6.0
सब्जियाँ	111.8	127.2	3.68	0.9
फल	57.7	86.2	3.06	2.9
मछली	6.9	11.2	2.89	3.5
अंडा (बिलियन)	50.7	81.4	6.60	3.4

स्रोत: भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद

सारणी 3: बकाया कृषि-ऋण (एससीबी)

(Amount in ₹ Crore, Accounts in Lakh)

मद	2000	2001	2002	2003	2004	2005	2006	2007	2008	2009	2010
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
खातों की कुल संख्या	**205.3**	**198.4**	**203.5**	**208.4**	**213.0**	**266.6**	**290.7**	**332.2**	**382.1**	**399.8**	**427.7**
प्रत्यक्ष	202.1	195.6	197.4	202.0	207.2	260.1	284.2	324.8	375.2	392.6	410.0
अप्रत्यक्ष	3.2	2.8	6.1	6.4	5.8	6.5	6.5	7.3	6.9	7.2	17.7
कुल बकाया राशि	**45,638**	**51,730**	**64,009**	**75,935**	**96,245**	**1,24,385**	**1,72,684**	**2,30,191**	**2,74,141**	**3,09,469**	**3,90,298**
प्रत्यक्ष	38,561	43,420	47,430	59,058	70,099	94,635	1,24,563	1,71,497	2,12,567	2,38,703	2,96,850
अप्रत्यक्ष	7,077	8,310	16,578	16,878	26,146	29,750	48,121	58,694	61,574	70,767	93,449

स्रोत: बीएसआर, आरबीआई

समय अधिकांश राज्यों में न्यूनतम समर्थन मूल्य नितांत कल्पित कीमत होती है। किसान यह बात जानते हैं कि उन्हें अपनी उपज न्यूनतम समर्थन मूल्य पर बेचने का विकल्प प्राप्त है, लेकिन उनकी पहुँच सरकारी अन्न भंडार या खरीद-केंद्रों तक नहीं होती है ।

14. विकेंद्रित खरीद योजना, जिसके अंतर्गत खाद्यान्न खरीदे जाते हैं और राज्य द्वारा स्वयं वितरित किये जाते हैं, को अपनाये जाने के बावजूद, उसके अंतर्गत कम उठाव के साथ-साथ अधिक खरीद के चलते खाद्यान्नों का बड़ा भंडार जमा हो गया है, जो कभी-कभी अपेक्षित बफर मानदंडों और खाद्यान्न-पर्याप्तता रिज़र्व से भी अधिक हो जाता है। पिछले तीन दशकों में, सिवाय कुछ वर्षों को छोड़कर चावल और गेहूँ की सकल खरीद उनके उठाव से अधिक हुई है ।

15. सारांश में कहा जा सकता है कि भारतीय कृषि की स्थिति आज खाद्यान्न-पर्याप्तता तथा खाद्यान्न-कीमत-अस्थिरता के संबंध में बढ़ती चिंता की पृष्ठभूमि में इसीलिए घटी उपज, न्यून उत्पादकता, अंतर-राज्य और अंतरराज्य तथा क्षेत्रीय असमानताओं, अयुक्तियुक्त खाद्यान्न भंडार प्रबंधन का मिश्रण हो गयी है । इस संदर्भ में, बारंबार एक ही बात कही जाती है कि ऋण उपलब्ध नहीं होता है । जबकि यह मामला अनुभवसिद्ध नहीं है, मैं आप सबों से यह पूछना चाहूँगा कि क्या उत्पादकता बढ़ाने के लिए ऋण एक महत्त्वपूर्ण घटक होता है ? यदि ऐसा है तो क्या हम ऋण की दिशा के बारे में जानते हैं ? क्या केवल ऋण उपलब्ध होना गिरती या न्यून कृषि-उत्पादकता की सारी समस्याओं का समाधान कर सकता है और इस पर भी हम किस प्रकार उत्पादकता में सुधार कर सकते हैं ? मैं कृषि-ऋण की प्रमुख प्रवृत्तियों और उत्पादकता में सुधार करने में इसकी भूमिका पर ध्यान केंद्रित करना चाहूँगा ।

कृषि-वित्त की प्रवृत्तियाँ

16. भारत में, जहाँ औपचारिक वित्तीय प्रणाली मुख्यतः बैंक-उन्मुख है, कृषि क्षेत्र की आवश्यकताओं का वित्तपोषण करने में बैंक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । कृषि के लिए समय पर और पर्याप्त ऋण की सुगम उपलब्धता के लिए इस क्षेत्र को प्राथमिकताप्राप्त क्षेत्र उधार कार्यक्रम, जिसे वर्ष 1969 मे बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद आरंभ किया गया था, के एक भाग के रूप में लक्षित किया गया । देसी वाणिज्यिक बैंकों को निदेश दिया गया है कि वे अपने निवल बैंक ऋण का 18 प्रतिशत कृषि और संबद्ध कार्यकलाप के लिए आबंटित करें । निदेशित ऋण कार्यक्रम का स्पष्ट परिणाम यह हुआ है कि वर्षों से कृषि के लिए आबंटित ऋण की राशि में पर्याप्त बढ़ोतरी हुई है (सारणी 3) । इसके अतिरिक्त, भारत सरकार ने वाणिज्यिक बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों और सहकारी बैंकों को यह भी निदेश दिया कि वे 2004 से तीन वर्ष की अवधि तक कृषि-ऋण की मात्रा को दुगुना कर दें । इसके अलावा भारत सरकार द्वारा वर्ष 2006 से ब्याज-दर अनुदान योजना आरंभ की गयी है।

17. कृषि ऋण और खातों की संख्या में वृद्धि, जिसमें 1990-2000 के दौरान गिरावट की प्रवृत्ति देखी गयी थी, 2000 के दशक के आरंभ में गति पकड़ने लगी और यह गति वर्ष 2006-07 तक देखी जाती रही, लेकिन हाल के वर्षों में इसमें एक बार फिर से गिरावट की प्रवृत्ति

चार्ट 5: कृषि ऋण और खातों की वृद्धि की तीन-वर्षीय चल औसत दर

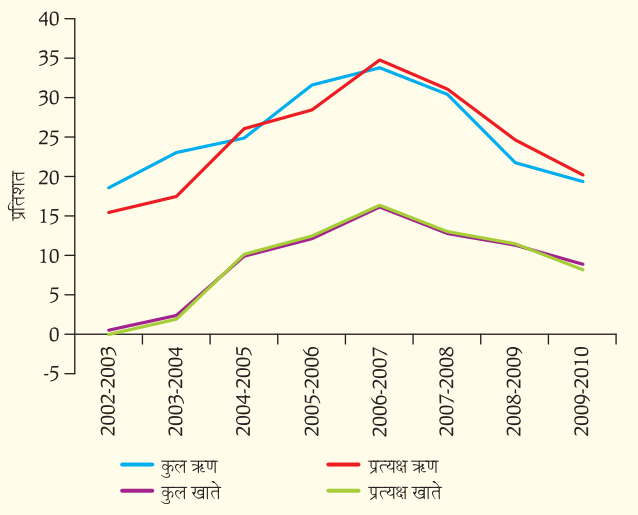

चार्ट 6: कृषि ऋण की संरचना

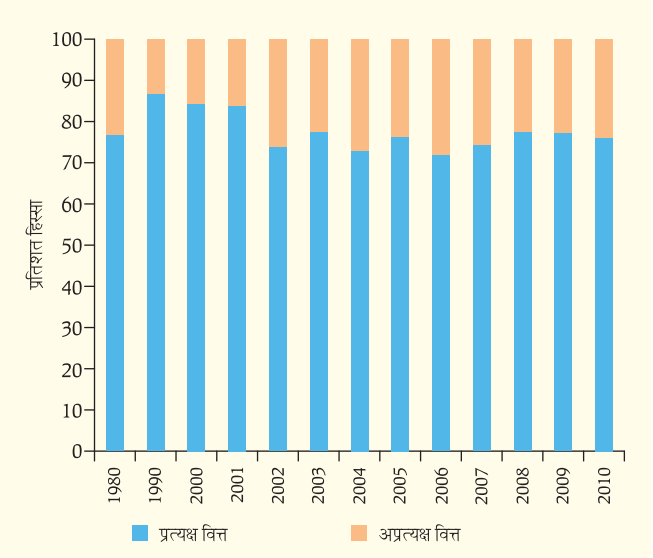

चार्ट 7: कुल कृषि ऋण में भूमि आकार वर्ग का हिस्सा

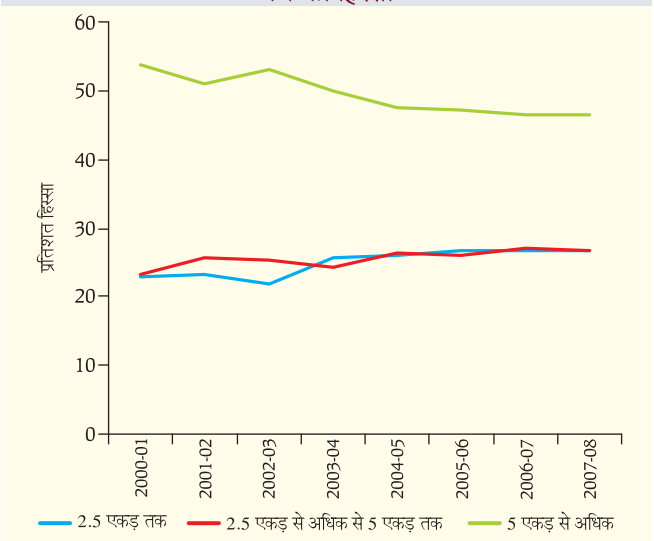

दिखने लगी है (चार्ट 5)। कृषि ऋण में उच्च वृद्धि के दौरान, अप्रत्यक्ष ऋण का हिस्सा बढ़ने लगा (चार्ट 6), लेकिन बाद के वर्षों में यह थम गया। इसके अतिरिक्त, कुल ऋण में लघु और सीमांत कृषकों का हिस्सा, जो लगभग 27 प्रतिशत था, वर्ष 2004-05 और 2006-07 के दौरान अपरिवर्तित रहा, भले ही कृषि ऋण में वृद्धि की गति तेज होती रही (चार्ट 7)। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि कृषि ऋण को दुगुना किये जाने का लाभ लघु और सीमांत कृषकों को अपेक्षाकृत कम प्राप्त हुआ।

18. उपलब्ध आँकड़ों से यह भी पता चलता है कि ग्रामीण शाखाओं द्वारा दिये गये कुल कृषि ऋण का हिस्सा, जो वर्ष 1990 में 55.0 प्रतिशत था, वर्ष 2010 में गिरकर 38.5 प्रतिशत हो गया (सारणी 4)। कृषि ऋण में शहरी और मेट्रोपोलिटन शाखाओं का योगदान इस अवधि में 14.9 प्रतिशत से बढ़कर 33.7 प्रतिशत हो गया जिससे पता चलता है कि ऋण-वितरण मुख्यतः गैर-ग्रामीण शाखाओं के माध्यम से किया जाता है । उपलब्ध आँकड़ों से यह सवाल खड़ा होता है कि किन खंडों को वास्तव में ऋण दिया जाता है और क्या यह जिन हिताधिकारियों के लिए अभिप्रेत है, उन तक पहुँचता भी है।

प्रासंगिक एमआइएस का अनुपलब्ध होना

19. कुल, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ऋण को छोड़कर अन्य विश्लेषणात्मक आँकड़ों के उपलब्ध न होने के कारण, कृषि ऋण के प्रवाह, और उत्पादकता पर उसके प्रभाव का विश्लेषण करने में कठिनाई होती है। इसके अलावा, विविध फसलों, बागबानी और संबद्ध कार्यकलापों के लिए समेकित आधार पर भी कृषि ऋण संबंधी बहुत कम आँकड़े उपलब्ध हैं । विश्लेषणात्मक और भिन्न-भिन्न किस्म के आँकड़ों की उपलब्धता में कमी नीति-निर्माण में बाधक होती है । उदाहरण के लिए, इस समय बैंकिंग प्रणाली कृषि क्षेत्र को कुल ऋण, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ऋण से भिन्न वित्त के संबंध में आँकडे एकत्र नहीं करती है। वितरित ऋण और बकाया ऋण से संबंधित आँकड़ों के बारे में भी बैंकों में बड़ा भ्रम है । हिताधिकारियों के खातों की संख्या पर ध्यान केंद्रित नहीं किया जाता है। अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों / क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों / राज्य सहकारी बैंकों / जिला मध्यवर्ती सहकारी बैंकों के बीच भी आँकड़ों का सुव्यवस्थित खंडीकरण नहीं किया जाता है।

कृषि उत्पादकता में सुधार के लिए सिफारिशें

20. अब मैं उस अंतिम खंड की चर्चा करूँगा जिसका संबंध उत्पादकता में सुधार किये जाने की चुनौतियों से है और इन चुनौतियों पर किस प्रकार विजय पायी जा सकती है।

सारणी 4 : आबादी-समूहों के आधार पर वर्गीकृत बैंक शाखाओं द्वारा दिए गए कुल कृषि ऋण का हिस्सा, प्रतिशत में

वर्ष	कुल कृषि ऋण का हिस्सा (% में), जो निम्नलिखित द्वारा दिया गया				
	ग्रामीण और अर्ध शहरी शाखाएँ	केवल ग्रामीण शाखाएँ	शहरी और मेट्रो-पोलिटन शाखाएँ	केवल मेट्रो-पोलिटन शाखाएँ	सभी शाखाएँ
	1	2	3	4	5
1990	85.1	55.5	14.9	4.0	100.0
1994	83.4	54.6	16.6	5.6	100.0
1995	83.7	52.7	16.3	7.3	100.0
2005	69.3	43.0	30.7	19.0	100.0
2006	62.4	37.1	37.6	23.8	100.0
2008	66.0	38.4	34.0	20.0	100.0
2009	66.6	38.7	33.4	17.9	100.0
2010	66.3	38.5	33.7	16.4	100.0

स्रोत: मूलभूत सांख्यकीय विवरणियों या भारत में अनुसूचित वाणिज्यिक बैंकों से परिकलित किया गया।

21. इस संबंध में प्रमुख चुनौती यह है कि भारत में लगभग 80 प्रतिशत जोत, आकार में 2 हेक्टेयर से कम के हैं । जबतक इन छोटे-छोटे जोतों की उत्पादकता नहीं बढ़ायी जाती तब तक कम खेत वाला कृषि-कार्य करना लाभप्रद नहीं हो सकता है । तथापि, नकद आय प्राप्त करने के लिए, खेत जितना छोटा होगा, बिक्रीयोग्य अधिशेष उपज की उतनी ही अधिक जरूरत होगी । अतः विकास की रणनीति के एकल उपाय के रूप में, छोटे-छोटे खेतों की उत्पादकता में सुधार करना, भूख और गरीबी को दूर करने में सबसे अधिक योगदान कर सकता है । राज्यों के बीच उत्पादकता में ज्यादा अंतर और यह तथ्य कि कृषि राज्य का विषय है, स्वयं एक चुनौती है । इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास की धीमी गति से सभी क्षेत्रों में भौतिक कनेक्टिविटी, विपणन और एकसमान सूचना के संचार में बाधा पहुँचती है जिससे उत्पादकता के सुधार में अड़चनें पैदा होती हैं।

22. अतः, इस सेमिनार के प्रतिभागी निम्नलिखित सुझावों/दृष्टिकोण पर विचार-विमर्श कर सकते हैं :

- कृषि उत्पादन में ऋण निस्संदेह एक महत्त्वपूर्ण तत्व होता है लेकिन यह निश्चय ही एकमात्र अनिवार्य निविष्टि नहीं होता है । वास्तव में, इस बात की आवश्यकता होती है कि ऋण को खेती की अन्य सहायक निविष्टियों एवं कार्यकलापों से सुव्यक्त रूप में जोड़ा जाये, जो अंततः मूल्य-सृजन और कृषकों के लिए उच्च आय को सुकर बनाते हैं । अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनेक संबद्ध कार्यकलापों तथा उससे जुड़ी सेवाओं, यथा, प्रौद्योगिकी, मृदा संरक्षण, सिचाई, भंडारण और विपणन, आदि के लिए ऋण सहायता उपलब्ध कराना ज्यादा लाभकर होगा।

- ऋण के कीमत-निर्धारण को बाजार आधारित होना चाहिए ताकि सभी वर्ग के कृषकों को कारगर ऋण-प्रवाह सुनिश्चित हो सके । यह आवश्यक है कि सब्सिडी वाले ऋण के स्थान पर समय पर और उचित लागत पर पर्याप्त ऋण दिये जाने पर जोर दिया जाये, विशेष रूप से वहाँ, जहाँ ऋण वितरण प्रणाली बहुत दुर्बल और जटिल हो ।

- यह भी महत्त्वपूर्ण है कि निविष्टि स्तर से लेकर उत्पादन स्तर तक ऋण के उपयोग पर निगरानी रखी जाये ताकि ऋण का उपयोग सुनिश्चित हो सके । ऋण पर निगरानी फसल तक ही सीमित न रहे बल्कि यह उससे संबंधित कार्यकलापों के लिए भी हो जिनका निधीयन नाबार्ड जैसी वित्तीय संस्थाओं द्वारा किया जाता है ।

- निवेशयोग्य संसाधनों के कुशल प्रयोग से कृषि उत्पादकता में सुधार करना खाद्य-सुरक्षा सुनिश्चित करने की चाबी होती है । यह संभव है कि एक बहुआयामी दृष्टिकोण अपनाकर संसाधनों के उपयोग की तीव्रता को बढ़ाये बिना उत्पादकता में सुधार लाया जाये, जो कृषि व्यवहारों के उन्नत प्रबंधन या कृषि विज्ञान, मृदा संरक्षण, विस्तार सेवाओं, भंडारण एवं विपणन सुविधाओं, प्रौद्योगिकी अंतरण, किसानों को नवीनतम प्रौद्योगिकी और खेती की तकनीक की जानकारी देने, को सार्वजनिक-निजी-भागीदारी के ढाँचे में बढ़ावा देकर किया जा सकता है, जिसमें किसानों, एनजीओ और उद्योग प्रतिनिधियों (फिक्की, सीआइआइ, आदि) और अन्य शेयरधारक संस्थाओं एवं संघों को शामिल किया जा सकता है । यह ढाँचा एक बहु उद्देशीय सहकारी संरचना के रूप में तैयार किया जा सकता है जिसका लक्ष्य परियोजना आधारित दृष्टिकोण द्वारा उत्पादकता में सुधार लाने के साथ कृषकों और उपभोक्ताओं, दोनों के कल्याण का अंतिम उद्देश्य प्राप्त करना हो ।

- सहकारी क्षेत्र द्वारा ऋण के वितरण में सुधार की आवश्यकता है और नाबार्ड को ऋण सेवाओं के साथ अन्य ऐसी अपेक्षाओं को एक साथ लाने में, जो कृषि और संबद्ध कार्यकलाप में सहायक हैं, प्रमुख भूमिका निभानी चाहिए, जिसमें किसानों को नवीनतम ऐसी जानकारी देना शामिल है जो उत्पादन चक्र को पूरा करने और अंतिम मूल्य सृजन को सुकर हैं। यद्यपि किसान क्रेडिट कार्ड जैसी योजनाओं ने किसानों की ऋण सहबद्धता में सुधार किये जाने में सहायता की है, फिर भी हमें अविलंब उन उपायों को ढूँढ़ना होगा जो विशेष रूप से लघु और सीमांत कृषकों को कृषि-ऋण की आपूर्ति बढ़ा सकते हों।

- इस प्रकार न केवल ऋण वितरण की दृष्टि से, बल्कि कौशल-वृद्धि और ज्ञान से जुड़ी प्रौद्योगिकी की दृष्टि से भी, एकीकृत एवं समूह दृष्टिकोण के माध्यम से भी सहकारी संस्थाओं को सुदृढ़ करने की जरूरत है । मेरी राय में, प्राथमिक कृषि सहकारी समितियाँ ग्रामीण ऋण के संवितरण का सर्वोत्तम साधन हैं । अतः जहाँ सहकारी बैंक दुर्बल हों वहाँ सहकारी क्षेत्र को वाणिज्यिक बैंकों के साथ जोड़ा जाना एक विकल्प हो सकता है।

- ऋण की जरूरतें उन क्षेत्रों में पूरी की जा सकती हैं जहाँ ऋण के लिए पात्र उत्पादकों को पहले से विद्यमान बुनियादी

सुविधाओं, यथा, कार्यरत आपूर्ति श्रृंखला और विपणन नेटवर्क के चलते ऋण प्राप्त हो सके । इन क्षेत्रों को ऋण प्रवाह बढ़ाने के बाद अगला तर्कसंगत कदम होगा इस अनुभव के आधार पर अन्य सभी क्षेत्रों को ऋण उपलब्ध कराना ।

- विशेष रूप से लघु कृषकों के लिए व्यष्टि बीमा को सुदृढ़ किये जाने की आवश्यकता है ताकि वे प्रकृति के ऐसे कोप का सामना भलीभाँति कर सकें जो कृषकों पर दुष्प्रभाव डालते हैं। विपणन और भंडारण जोखिमों पर ध्यान देने के लिए एक संस्थागत तंत्र बनाये जाने की आवश्यकता है ।

- जैसाकि पहले कहा गया है, उपभोग किये गये या माँगे गये ऋण के संबंध में विश्लेषणात्मक आँकड़ों का अभाव कारगर नीति-निर्माण के लिए बाधा होता है । इस संबंध में एक समग्र प्रबंध सूचना प्रणाली की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया जाना जरूरी है । बैंकों, आरबीआई, नाबार्ड, वित्तीय संस्थाओं, राज्य और केंद्र सरकारों की प्रबंध सूचना प्रणाली को पुनरुज्जीवित करना होगा।

- हाल के वर्षों में हमने उपज में कमी देखी जो खाद्यान्न की पर्याप्तता दृष्टि से चिंताजनक है । अतः यह आवश्यक है कि सभी के लिए समान कृषि-प्रौद्योगिकी का संवर्धन किया जाये जिसमें उत्पादकता में सुधार करने के साधन के रूप में कृषि के लिए बैंक ऋण पर अधिक जोर दिया जाये।

- अंत में, शुष्क भूमि में खेती, वर्षाजल-संचय और जल के धारणीय उपयोग, बीज की अधिक उपज वाली किस्में, जिनमें कीट एवं सूखा प्रतिरोधक विशेषताएँ हों, के लिए प्रौद्योगिकी के संबंध में देशी अनुसंधान और विकास पर फिर से जोर दिया जाना चाहिए। इस संबंध में, कृषि अनुसंधान संस्थाओं और उनसे संबंधित समर्थक एजेंसियों की भूमिका को नजरंदाज़ नहीं किया जा सकता।

उपसंहार

23. यह संपूर्ण सूची नहीं है । तथापि, मैं महसूस करता हूँ कि इस बात पर अफसोस करने, कि उत्पादकता में कमी आयी है, के बदले हमें अतीत में 1960 के दशक में हुई हरित क्रांति की ओर देखना चाहिए ताकि हममें विश्वास जगे कि उत्पादकता में सुधार किया जा सकता है । हमें विद्यमान बाधाओं को पार करने के लिए रास्तों की तलाश करनी चाहिए और वित्त का साधन के रूप में उपयोग करके उत्पादकता को बढ़ाना चाहिए। हरित क्रांति ने भारत में खाद्यान्न पर्याप्तता का रास्ता तैयार किया। तब से प्रौद्योगिकी संबंधी कोई नयी खोज नहीं हुई है, और उच्च उत्पादन-वृद्धि की आवश्यकता के मद्देनजर दूसरी हरित क्रांति अपरिहार्य दिखती है। वास्तव में, प्रो.स्वामिनाथन द्वारा ढाले गये एक शब्द को उधार लेकर हम कह सकते हैं कि हमें एक सदाबहार क्रांति लाने की आवश्यकता है। तथापि, खाद्यान्न पर्याप्तता और खाद्यान्न सुरक्षा नेटवर्क का प्रबंधन करने की दृष्टि से भारत को उच्चतर उत्पादन के साथ अनाज, दालों, तिलहन, सब्जियों, पोल्ट्री, मांस, मछली और दूध में उत्पादकता बढ़ाने की आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि यह सेमिनार ऐसा करने के लिए नये रास्ते और साधनों का सृजन करने में उपयोगी सिद्ध होगा। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भारत को कृषि और संबद्ध क्षेत्रों में अधिक निवेश करने की आवश्यकता होगी। मैं सेमिनार में किये जाने वाले विचार-विमर्श की सफलता की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसमें से एक व्यवहार्य योजना उभर कर सामने आयेगी और प्रतिभागी अपने-अपने संगठनों में इसे कार्यान्वित करने की स्वयं जिम्मेवारी लेंगे ताकि क्षेत्रीय तथा अंतर-राज्यीय एवं अंतर्राज्यीय असमानताएँ कम हो सकें और हम अपने देश में कृषि उत्पादकता बढ़ाने में कारगर ढंग से योगदान कर सकें।